



ISSN Print: 2394-7500  
ISSN Online: 2394-5869  
Impact Factor: 5.2  
IJAR 2015; 1(9): 1131-1136  
www.allresearchjournal.com  
Received: 12-06-2015  
Accepted: 16-07-2015

**डॉ. कविता राजन**

एसोसिएट प्रोफेसर, सत्यवती  
महाविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय,  
दिल्ली, भारत

## काव्य-मूल्यांकन के प्रतिमान-निर्धारण

### डॉ. कविता राजन

#### प्रस्तावना

कविता के मूल्यांकन के लिए प्रतिमानों के निर्धारण की एक समृद्ध परम्परा रही है। संस्कृत काव्यशास्त्र में भरतमुनि से लेकर पंडितराज जगन्नाथ तक लगभग डेढ़ हजार वर्ष तक फैली हुई काव्य-सिद्धान्तों की इस परम्परा को देखा जा सकता है। जो आगे हिन्दी में भी जारी रही। इसमें विभिन्न काव्य-सिद्धान्तों का प्रतिपादन एवं खंडन-मंडन होता रहा। ये सिद्धान्त कई भिन्न-भिन्न दृष्टियों के माध्यम से समय-समय पर प्रवर्तित-प्रवर्धित होते रहे हैं। एक वर्ग रस को काव्य का प्रतिमान मानता है, तो दूसरा अलंकार को और तीसरा रीति को---। इन विभिन्न साहित्य चिंतन की दृष्टियों में कौन सा सिद्धान्त सही है अथवा कौन-सा गलत, यह प्रश्न काव्य संबंधी अपूर्ण समझ का ही द्योतक है। कोई भी काव्य-सिद्धान्त न तो पूर्णरूपेण सही होता है और न ही पूर्णरूपेण गलत। बल्कि उनकी महत्ता युगबोध पर निर्भर करती है। समस्या तब उत्पन्न होती है जब हम पुराने निकष के आधार पर नयी कविता को मूल्यांकित करने का प्रयास करते हैं। इस तरह खोट हमें कविता में नजर आती है, क्योंकि हम अपने संस्कारों से इतने बंधे होते हैं कि अपने प्रतिमान की कमी को नहीं पहचान पाते।

आज के समय में 'रस-ध्वनि' काव्य प्रतिमान के रूप में अपनी महत्ता बनाये हुए है। जिसको उद्धाटित करते हुए डॉ- नामवर सिंह कहते हैं - "काव्य के मूल्यांकन के लिए प्रतिमान के रूप में रस को प्रस्तुत करने वाले अनायास ही यह सर्वसामान्य तथ्य भुला देते हैं कि काव्य में इस की प्रसंगानुकूलता अर्थ-मीमांसा की पद्धति से ही संभव हो सकी। भरत का नाट्य रस आनंदवर्धन के ध्वनि-सिद्धान्त द्वारा ही काव्य-रस बन सका।" रस-ध्वनि क्यों महत्वपूर्ण है। इसके पीछे भी एक दृष्टि है। जिस पर काव्य-चिंतन के क्षेत्र में पर्याप्त विचार मंथन हुआ है।

भारतीय काव्यशास्त्र के विभिन्न सम्प्रदायों के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि इसमें दो तरह की विचारधाराएँ बराबर सक्रिय रही हैं- पहली आत्मा को प्रधान मानकर चलने वाली, जिसके अन्तर्गत रस, ध्वनि और औचित्य सम्प्रदाय आते हैं। तो दूसरी काव्य शरीर को प्रधानता देने वाली विचारधारा जिसके अन्तर्गत अलंकार, रीति-सम्प्रदाय और वक्रोक्ति सिद्धान्त को स्थान मिला। आत्मवादी और शरीरवादी में साहित्य का प्राण तत्व क्या है? इस प्रश्न को लेकर लगातार बहस होती रही। लंबे बहस और विचार-विमर्श के पश्चात् इस बिन्दु पर एकमतता नजर आती है कि काव्य का सारतत्व 'रस-ध्वनि' ही है, क्योंकि शब्द

**Correspondence**

**डॉ. कविता राजन**

एसोसिएट प्रोफेसर, सत्यवती  
महाविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय,  
दिल्ली, भारत

और अर्थ के सहभाव का नाम साहित्य है। यही कारण है कि रस-ध्वनि की प्रसंगानुकूलता पर आज भी चर्चा होती है।

हिन्दी आलोचना की व्यवस्थित शुरुआत आचार्य रामचन्द्र शुक्ल से मानी जाती है। शुक्ल की आलोचना दृष्टि हिन्दी नवजागरण कालीन चेतना से निर्मित हुई। इसके पहले आलोचना की कोई ठोस परम्परा नहीं थी। पत्रिकाओं में साहित्य समीक्षाओं का प्रकाशन यदा-कदा होता था। लेकिन शुक्ल जी के ही शब्दों में ये सब 'बहिरंग बातों तक ही'<sup>2</sup> सीमित थीं। रसवादी, प्रभाववादी, संस्कृत काव्य-शास्त्र आधारित आलंकारिक एवं गुण-दोष दर्शन से इतर शुक्ल जी ने हिन्दी आलोचना को साहित्यिक एवं वैज्ञानिक भूमि प्रदान की।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने रस को काव्य प्रतिमान के रूप में प्रस्तुत किया। जिसके आधार पर उन्होंने साहित्य को परखने का कार्य किया। ध्यातव्य है कि शुक्ल जी का रसवाद, काव्यशास्त्र के रस-सम्प्रदाय को तगड़ा झटका दिया था। आचार्य शुक्ल की व्यवहारिक समीक्षा का आधार उनकी सैद्धान्तिक पुस्तक 'रस-मीमांसा' ही है। इसलिए बकौल विश्वनाथ त्रिपाठी 'उनका मजबूत पक्ष है, उनकी रस-मीमांसा' इस ग्रन्थ का महत्व इस बात में है कि 'कविता के नए प्रतिमान' के पहले और बाद में रस को लेकर आधुनिक प्रखर चिंतन नहीं मिलता जो शुक्ल जी के विचारों से आगे बढ़ पाया हो। आचार्य शुक्ल के बाद नगेन्द्र ने रस को प्रतिमान के रूप में सामने रखा। परन्तु नगेन्द्र की रसवादी दृष्टि रस की तत्व-मीमांसा में ही उलझकर रह जाती है, यही कारण है कि वह अर्थ-मीमांसा तक नहीं पहुंच पाती। जबकि शुक्ल जी की पहुंच अर्थ-मीमांसा तक थी। जिसको स्पष्ट करते हुए डॉ- नामवर सिंह कहते हैं - "रस-मीमांसा के अंत में परिशिष्ट रूप में संकलित टिप्पणियों से पता चलता है कि अंतिम दिनों आचार्य शुक्ल शब्द-शक्ति-विवेचन और अर्थ-मीमांसा पर ही अपना ध्यान केन्द्रित कर रहे थे। --- निस्संदेह आज डॉ- नगेन्द्र भी आचार्य शुक्ल के ही सदृश रस-सिद्धान्त को शाश्वत एवं सार्वभौम काव्य-सिद्धान्त के रूप में प्रतिष्ठित करने का आग्रह कर रहे हैं, किन्तु आग्रह समान होते हुए भी प्रयास कितना दूर है, इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है अर्थ-मीमांसा से निपट विरक्ति।"<sup>3</sup>

चूंकि शुक्ल जी की चेतना नवजागरण कालीन थी, इसलिए उन्होंने रूढिवादिता, अलौकिकता, रहस्यवादिता के स्थान पर वैज्ञानिकता और लौकिकता को महत्व दिया। यही कारण है कि उन्होंने रस के आनन्दमयी स्वरूप का विरोध करते हुए उसकी लौकिक व्याख्या की। रस को परिभाषित

करते हुए शुक्ल जी कहते हैं - "लोक-हृदय में हृदय के लीन होने की दशा का नाम रसदशा है।"<sup>4</sup> इसी क्रम में शुक्ल जी ने कविता की जो परिभाषा दी है, उसका भी आधार रस ही है। "जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञानदशा कहलाती है, उसी प्रकार हृदय की मुक्तावस्था रसदशा कहलाती है। हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द विधान करती आई है, उसे कविता कहते हैं।"<sup>5</sup> कविता को शुक्ल जी भावयोग भी कहते हैं, और इसे कर्मयोग तथा ज्ञानयोग के समकक्ष मानते हैं। हृदय की मुक्तावस्था में मनुष्य का हृदय स्वार्थ-संबंधों के संकुचित दायरे से ऊपर उठकर 'लोक-सामान्य-भावभूमि' पर पहुंच जाता है। ध्यान देने की बात है कि यहां मनुष्य का हृदय संकुचित मंडल से ऊपर उठकर, लोकोत्तर क्षेत्र में नहीं पहुंचता, बल्कि 'लोक-सामान्य-भावभूमि' पर पहुंचता है। जो काव्य का उद्देश्य है। यह लौकिक दृष्टि नहीं तो और क्या है?

कहना न होगा कि अमूर्त और अगोचर के विरुद्ध प्रत्यक्ष की प्रतिष्ठा ही वह मूल उद्देश्य था, जिस कारण काव्य में रहस्यवाद और आध्यात्मवाद का शुक्ल जी विरोध करते हैं। परन्तु इसी संदर्भ में उनसे भूलें भी हुईं। रहस्यवाद और साम्प्रदायिकता का आरोप लगाते हुए उन्होंने नाथों, सिद्धों एवं निर्गुण संतों की बानियों को असाहित्यिक करार दिया। और 'संस्कृत बुद्धि', 'संस्कृत हृदय' एवं 'संस्कृत वाणी' के विकास न होने के कारण कबीर आदि 'अनपढ़ों' की साहित्यिकता को लताड़ते भी गए। अब प्रश्न यह उठता है कि शुक्ल जी से भूलें क्यों हुईं? वस्तुतः इसके मूल में 'जनता' और 'शिक्षित जनता' का वह भेद है, जो आचार्य शुक्ल के इतिहास में आदि से अंत तक विद्यमान है।

आचार्य शुक्ल की दृष्टि में रस परिपाक के लिए मूल वस्तु विभाव-विधान है। विभाव में आलम्बन प्रधान वस्तु है। जिसका सम्बन्ध लोक से होना आवश्यक है। उन्होंने रस की पूर्ण व्यंजना के लिए कवि, आलम्बन और सहृदय तीनों की अनुभूतिपरक एकता को आवश्यक माना है, वे कहते हैं - "जहां आचार्यों ने पूर्ण रस माना है, वहां तीन हृदयों का समन्वय चाहिए। आलम्बन द्वारा भाव की अनुभूति प्रथम तो कवि में चाहिए, फिर उसके वर्णित पात्र में और फिर श्रोता या पाठक में।"<sup>6</sup>

इसी तरह आचार्य शुक्ल ने रूप-विधान भी तीन प्रकार के माने हैं, प्रत्यक्ष, स्मृति और कल्पित रूप विधान। जिसमें

कल्पित रूप-विधान ही काव्य-समीक्षकों और साहित्य मीमांसकों के विचार से ज्यादा महत्वपूर्ण है। हालांकि रस मग्न हमें तीनों ही रूप-विधान कर सकते हैं। “कल्पित रूप-विधान द्वारा जागरित मार्मिक अनुभूति तो सर्वत्र काव्यानुभूति या रसानुभूति मानी जाती है।”<sup>7</sup> किन्तु “प्रत्यक्ष या स्मरण द्वारा जागरिक वास्तविक अनुभूति भी विशेष दशाओं में रसानुभूति की कोटि में आ सकती है।”<sup>8</sup> इसी क्रम में शुक्ल जी ने स्मृत्याभास की भी चर्चा की है, लेकिन उनकी यह चर्चा अतीत और स्वर्णयुग से परिचालित होने लगती है। पुनरुत्थानवाद की गंध आ ही जाती है। जो निम्न उदाहरण से स्पष्ट है - “हृदय के लिए अतीत एक मुक्तिलोक है, जहां वह अनेक प्रकार के बंधनों से छूटा रहता है, और अपने शुद्ध रूप में विचरता है। वर्तमान हमें अंधा बनाये रखता है, अतीत बीच-बीच में हमारी आंखें खोलता है।”<sup>9</sup> कल्पित रूप विधान ही रस की उच्च कोटि है।

आचार्य शुक्ल रस की मध्यम और निम्न दो कोटि और भी मानते हैं। रस की मध्यम कोटि ही शास्त्रों में ‘रसाभास’ के नाम से अभिहित की जाती है। काव्य में ‘रसाभास’ की स्थिति तब आती है, जब हम आश्रय के साथ तादात्म्य स्थापित नहीं कर पाते। उदाहरणार्थ - रावण जब सीता के प्रति क्रोध व्यक्त करता है, तब हम रावण के प्रति तादात्म्य स्थापित न करके ऐसी स्थिति में इन पात्रों के शीलद्रष्टा मात्र होते हैं। इस प्रकार हमें जो रस प्राप्ति होती है, वह रस की मध्यम कोटि की कहलाती है। इस प्रकार रसाभास के माध्यम से शुक्ल जी ने शील वैशिष्ट्य को महत्व देने वाले काव्यों को भी रस-दृष्टि के दायरे में ला देते हैं। ‘वैचि=य-प्रदर्शन की दृष्टि से लिखे गए पाश्चात्य नाटकों की रसानुभूति इसी कोटि में आती है। इसी प्रकार चमत्कारवादियों की कूतूहल वृत्ति को शुक्ल जी रस की निम्न कोटि मानते हैं। इस प्रकार रस की इन तीनों कोटियों के अन्तर्गत सभी प्रकार के काव्य समाहित हो जाते हैं।

रस को आधार बनाकर शुक्ल ने काव्य के दो विभाग किए हैं - (1) आनंद की साधनावस्था (2) आनंद की सिद्धावस्था। करुण रस का सम्बन्ध साधनावस्था के काव्य से है, जिसमें लोकरक्षा का भाव छुपा रहता है। जो प्रबंध काव्यों का बीज भाव है। करुण रस को शुक्ल जी श्रेष्ठ काव्य का प्रतिमान मानते हैं। यही कारण है कि तुलसी शुक्ल के सबसे प्रिय कवि हैं। जबकि प्रेम का संबंध सिद्धावस्था के काव्य से है। प्रेम की उत्पत्ति करुणा के

पश्चात् होती है - “लोक के प्रति जब करुणा सफल हो जाती है, लोक जब पीड़ा और विघ्न बाधा से मुक्त हो जाता है, तब रामराज्य में जाकर लोक के प्रति प्रेम प्रवर्तन का, प्रजा के रंजन का, उसके अधिकाधिक सुख के विधान का अवकाश मिलता है।”<sup>10</sup> इसीलिए शुक्ल जी प्रेम काव्य को करुण रस प्रधान काव्य के बाद स्थान देते हैं। प्रेम काव्य के दो पक्ष होते हैं - रंजन और पालन। लोक रंजन का संबंध शृंगार रस से और लोक पालन का वात्सल्य रस से है। यही कारण है कि वात्सल्य रस के महान कवि सूर के वर्णन पर वे इतना रीझ जाते हैं। जबकि सूर के ही शृंगार रस प्रधान भाग को कम महत्व देते हैं।

आचार्य शुक्ल जब यह कहते हैं कि “ज्यों-ज्यों हमारी वृत्तियों पर सभ्यता के नए-नए आवरण चढ़ते जायेंगे, कवि कर्म कठिन होता जायेगा”<sup>11</sup> तब वे आलोचना के प्रतिमान तो बता ही रहे होते हैं, आलोचक कर्म की निरन्तर प्रगतिशीलता की ओर इशारा कर आने वाली पीढ़ियों को चेता भी रहे होते हैं। व्यक्ति और समाज, अन्तर्जगत और बाह्य जगत, रूप और वस्तु, अनुभूति और विचार जैसी द्वन्द्वात्मक इकाईयों में ‘विरुद्धों का सामजस्य’ करना उनका लक्ष्य था। जिसकी प्रशंसा करते हुए डॉ- रामविलास शर्मा कहते हैं - “विरोधी लगने वाली वस्तुओं का सामजस्य पहचानना, उन्हें गतिशील और विकासमान देखना, संसार के विभिन्न भौतिक और मानसिक व्यापारों का परस्पर संबंध स्थापित करना, उनका अध्ययन करना, इस पद्धति की विशेषताएं हैं।”<sup>12</sup>

शुक्ल जी से इतर हजारीप्रसाद द्विवेदी के अपने काव्य प्रतिमान थे, जिसको नामवर सिंह ने ‘दूसरी-परम्परा’ के नाम से अभिहित किया है। शुक्ल जी के विचारों से हजारीप्रसाद द्विवेदी का जो मतभेद है, वह चाहे सिद्धों, नाथों तथा कबीर को लेकर हो या फिर भक्तिकाल की उत्पत्ति को लेकर, उसे सिर्फ साहित्यिक मतभेद भर नहीं समझना चाहिए। वस्तुतः यह मतभेद नई दृष्टि का परिचायक है। जिससे ही प्रतिमान का निर्माण होता है। इस सन्दर्भ में डॉ- नामवर सिंह कहते हैं - “इस चिन्तन क्रम में द्विवेदी जहां परम्परा से प्राप्त हिन्दी साहित्य के इतिहास के मानचित्र को बदलकर एक दूसरा मानचित्र प्रस्तुत करते हैं, वहीं साहित्य-संबंधी एक नई मान्यता भी सामने आती है। इस प्रकार एक नए इतिहास के साथ एक भिन्न परम्परा ही नहीं आती, साहित्य को जांचने-परखने का एक प्रतिमान भी प्रस्तुत होता है।”<sup>13</sup>

द्विवेदी जी सामाजिक-सांस्कृतिक आलोचक थे। वे अपने साहित्य में निरन्तर इतिहास, जाति, परम्परा से प्रेरणा ग्रहण करते हुए भविष्य की ओर संकेत भी करते हैं। तेन की अवधारणा-प्राणी, वातावरण और क्षण से व्यक्तित्व का निर्माण और व्यक्तित्व के निर्माण में वंश परम्परा, परिवेश और उसके युग की विचारधारा एवं विश्वास की भूमिका का होना - को ध्यान में रखें तो कहा जा सकता है कि द्विवेदी जी के प्रतिमान भी उन्हीं तत्वों से निर्मित हुए हैं। द्विवेदी जी का मानना था कि किसी भी कृति को समझने का प्रधान सहायक उस कृतिकार का जीवन है। निश्चित तौर पर उसका जीवन परिवेश और परम्परा से अनिवार्यतः सम्बद्ध होता है। इसलिए किसी भी रचना को उसके देश, काल, परिवेश से अलग करके नहीं परखा जा सकता है।

आचार्य द्विवेदी के अनुसार साहित्य गतिशील सांस्कृतिक प्रवाह का अंग है। सामाजिक विकास, सांस्कृतिक विकास और साहित्यिक विकास एक दूसरे से इतने संश्लिष्ट रूप से अन्तर्भूत हैं, कि इन्हें अलग-अलग करके नहीं समझा जा सकता। द्विवेदी जी संस्कृति को विशुद्ध एवं शाश्वत नहीं मानते। “मनुष्य की जीवनी शक्ति बड़ी निर्मम है, वह सभ्यता और संस्कृति के वृथा मोह को रौंदती चली आ रही है, संघर्षों से मनुष्य ने नई शक्ति पायी है। देश और जाति की विशुद्ध संस्कृति केवल बात की बात है।”<sup>14</sup> वस्तुतः द्विवेदी जी की सांस्कृतिक दृष्टि, उनके सामाजिक दृष्टि से ही उद्भूत है।

आचार्य शुक्ल के पश्चात् रस के पुनर्व्याख्याता के रूप में डॉ- नगेन्द्र सामने आये। यह संयोग ही है कि छायावाद, जहां से शुक्ल ने कविता के मूल्यांकन का कार्य छोड़ा था, वहीं से नगेन्द्र ने अपनी शुरुआत की, वो भी रस-सिद्धान्त के साथ। डॉ- नगेन्द्र रस-सिद्धान्त को काव्य के मूल्यांकन का सबसे सार्थक प्रतिमान मानते हैं। साथ ही जहां एक तरफ रस को उसकी सम्पूर्ण व्याप्ति में ग्रहण करते हुए भरत के रससूत्र की अवस्था विशेष से आगे बढ़ते हुए काव्य की सम्पूर्ण भाव सम्पदा को इसमें समाहित कर लेते हैं, वहीं दूसरी तरफ पाश्चात्य सिद्धान्त एवं वाद भी रस-सिद्धान्त से बाहर नहीं जाते। वे कहते हैं - “रस सिद्धान्त एक ऐसा सिद्धान्त है, जिसमें इन वादों का विरोध मिट जाता है, जो सभी के अनुकूल पड़ता है और सभी का अपने स्वरूप में समन्वय कर लेता है।”<sup>15</sup>

डॉ- नगेन्द्र कविता को आत्माभिव्यक्ति मानते हैं। इसी कारण छायावाद को ‘स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह’ तथा प्रगतिवाद को पुनः ‘सूक्ष्म के प्रति स्थूल का विद्रोह’ मानते

यह युग के साथ साहित्य और समाज की मूल्य-निर्णय की चिंता में आने वाला बदलाव ही कहा जायेगा कि आचार्य शुक्ल की दृष्टि में जो साहित्य ‘जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिम्ब’<sup>16</sup> था, वही हजारीप्रसाद द्विवेदी की दृष्टि में ‘मनुष्य की मुक्ति’<sup>17</sup> का साधन। जो निरन्तरता के साथ परिवर्तन को ही दर्शाता है। जैसे-जैसे युगबोध बदलता है, वैसे-वैसे साहित्य की मूल्य चिंता भी नया रूप धारण करती चलती है। 1936 ई- में प्रगतिशील लेखक संघ के पहले अधिवेशन में सौन्दर्य को बदलने की जो बात प्रेमचन्द ने कही, वे साहित्य और समाज के संबंधों की व्यापकता को बढ़ा ही रहे थे, साथ ही नवीन भूमिका भी तय कर रहे होते हैं।

प्रेमचन्द ‘प्रगतिशील’ नाम पर आपत्ति जताते हैं, क्योंकि ‘साहित्यकार स्वभावतः प्रगतिशील’<sup>18</sup> होता है। जिसके अन्दर हमेशा एक बेचैनी का भाव रहता है। यह बेचैनी सामाजिक व्यवस्था की देन होती है। जिसके कारण वह अपने अन्दर और बाहर कमी महसूस करता है। जिसे दूर करने की छटपटाहट उसके अन्दर होती रहती है। प्रेमचन्द साहित्यकार के लक्ष्य को बताते हुए कहते हैं - “साहित्यकार का लक्ष्य केवल महफिल सजाना और मनोरंजन का सामान जुटाना नहीं है - उसका दरजा इतना न गिराइये। वह देशभक्ति और राजनीति के पीछे चलने वाली सच्चाई भी नहीं, बल्कि उसके आगे मशाल दिखाती चलने वाली सच्चाई है।”<sup>19</sup> प्रेमचन्द समय के साथ समाज में आने वाले परिवर्तनों की आहट पहचान रहे थे और उसी के अनुसार साहित्य में भी नवीन मूल्य-प्रणाली की हिमायत कर रहे थे। बाद में जिसे हिन्दी की प्रगतिशील/मार्क्सवादी आलोचना के नाम से जाना गया, उसके बीज हमें प्रेमचन्द के इन विचारों में दिखाई देते हैं।

हिन्दी की प्रगतिशील आलोचना मार्क्स के दार्शनिक सिद्धान्त के आधार पर जीवन और साहित्य का मूल्यांकन करती है। ऐतिहासिक विकास क्रम में मार्क्स ने भौतिकवादी दृष्टिकोण से यथार्थपरक जीवन मूल्यों को सामने रखकर वर्ग-संघर्ष और द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की वैज्ञानिक पद्धति से साहित्य और इतिहास की नई व्याख्या की। जिसे राजनीति में मार्क्सवादी विचारधारा के रूप में जाना जाता है। “मार्क्सवादी दृष्टि मूलतः सामाजिक और ऐतिहासिक दृष्टि है। वह किसी वस्तु का अध्ययन देश-काल के परिप्रेक्ष्य में करती है, विवेच्य अन्तर्विरोधों का विश्लेषण करके वैज्ञानिक ढंग की प्रतिक्रिया और प्रगति के तत्वों को अलग-अलग छांटती है।”<sup>20</sup> इसके आधार पर विकसित

जीवन-दृष्टि पर ही प्रगतिशील आलोचना का विकास हुआ। साहित्य में वैयक्तिक, आदर्शवादी और कलागत मूल्यों के स्थान पर यथार्थपरक और वास्तविकता को प्रगतिशील आलोचना में अपनाया गया। जिसे हम मुक्तिबोध, रामविलास शर्मा और नामवर सिंह की समीक्षाओं में देख सकते हैं।

हिन्दी में मार्क्सवादी आलोचना की विधिवत शुरुआत रामविलास शर्मा से होती है। रामविलास जी 'निराला की कविता' शीर्षक लेख में लिखते हैं - "कविता हृदय की भाषा है। उसको समझने के लिए अधिक आवश्यकता भावुकता की है, न कि फिलॉसफी की।"<sup>21</sup> भावुकता शब्द पर ध्यान देने पर बात कुछ अटपटी सी लगती है। लेकिन भावुकता से उनका क्या तात्पर्य हो सकता है? उन्हीं के शब्दों में - "मनुष्य का रसबोध उसका भावजगत उसकी विश्व-प्रतीति से संबद्ध होता है और सामाजिक जीवन परिवर्तित होने के साथ उसकी रसवृत्ति और भावनाओं में भी धीरे-धीरे परिवर्तन होता है।"<sup>22</sup> अर्थात् - भावुकता वही जो विश्व-प्रतीति और सामाजिक जीवन में हो रहे परिवर्तनों से सम्बद्ध हो।

ध्यान देने की बात यह है कि विश्व-प्रतीति और सौन्दर्यबोध साहित्य विकास में ऐसे दो स्तर हैं जिनमें संतुलन रखना आवश्यक होता है। मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र आर्थिक जीवन का प्रतिबिम्ब नहीं है। लेकिन प्रायः प्रतिबिम्ब मानने की चूक मार्क्सवादी आलोचक करते आए हैं। बल्कि सौन्दर्यशास्त्र का सम्बन्ध समाज से पर्याप्त जटिल है। इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए डॉ- रामविलास शर्मा कहते हैं - "कलात्मक सौन्दर्य आर्थिक संबंधों का प्रतिबिम्ब नहीं है, समाजतंत्र से उसका संबंध पेचीदा है।"<sup>23</sup> इसी दृष्टिकोण को आधार बनाकर डॉ- शर्मा ने कृतियों एवं कृतिकारों दोनों का मूल्यांकन किया और निरन्तर भाववादी बोध के खिलाफ हिन्दी-साहित्य में मुहिम जारी रखी।

रामविलास शर्मा की एक महत्वपूर्ण स्थापना 'जाति' की अवधारणा है। जाति की चेतना मानवतावाद की व्यापक भाव-भूमि पर ही आधारित है। "जातीय चेतना वह उत्स है, जिससे देश-प्रेम और मानव प्रेम की धाराएं फूटती हैं।"<sup>24</sup> शर्मा जी विसेंट स्मिथ के माध्यम से यह भी बताते हैं कि जिन इतिहासकारों को जातीय प्रदेश, जातीय-भाषा और जातीय संस्कृति की ठीक समझ नहीं होती है, वे उसे मजहबी और नस्लवादी समझ बैठते हैं। परन्तु रामविलास शर्मा स्वयं हिन्दी जाति की अवधारणा के चिंतन क्रम में दयानन्द के जातीय चिंतन तक पहुंच जाते हैं। जिसके

परिणाम स्वरूप शर्मा जी दृग्वेद की तरफ आकर्षित होते हैं और अपने रचनाकाल के उत्तरार्द्ध में उन्होंने दृग्वेद पर कई पुस्तकें लिखीं। इस प्रकार शर्मा जी 'मार्क्सवाद से क्रमशः दृग्वेद की तरफ बढ़ते गए अर्थात् द्वन्द्व्वात्मकता से अनेकांतवाद' की ओर। इसी क्रम में शर्मा जी दृग्वेद से नवजागरण प्रारम्भ मानकर कुल चार नवजागरणों की चर्चा करते हैं, चौथे नवजागरण का भी विकास चार चरणों - यथा - 1857 का गदर, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का युग, महावीर प्रसाद द्विवेदी का युग और निराला का लेखन - में दिखाते हैं। क्या नवजागरण की यह सुदीर्घ परिकल्पना एक तरह की बुनियाद परस्ती नहीं है?

"जो महत्व ऐतिहासिक भौतिकवाद के लिए इतिहास का है, वही आलोचना के लिए साहित्य की परम्परा का है। इतिहास के ज्ञान से ही ऐतिहासिक भौतिकवाद का विकास होता है, साहित्य की परम्परा के ज्ञान से ही प्रगतिशील आलोचना का विकास होता है।"<sup>25</sup> प्रस्तुत उद्धरण से स्पष्ट है कि रामविलास शर्मा के यहां परम्परा का जो अर्थ है, वह हजारीप्रसाद द्विवेदी की परम्परा के करीब है। जिसका अर्थ समाज की गतिशीलता के साक्षात्कार से है। परन्तु कहीं-कहीं शर्मा जी परम्परा के नाम पर गलत मथेडोलॉजी अपनाते हैं। जैसे - कबीर, तुलसी, भारतेन्दु, प्रेमचन्द और निराला सभी को एक ही परम्परा में दिखलाना।

डॉ- शर्मा ने उन साहित्यकारों पर विस्तृत समीक्षा लिखी है, जिनकी रचना का स्वर जनवादी है। उन्होंने अपने प्रखर लेखन से, सुविचारित और आडम्बरहीन गद्य में लिखी आलोचना से, जनवादी परम्परा को मजबूत बनाया। केदारनाथ सिंह, नागार्जुन, त्रिलोचन जैसे कवियों पर जब भी लिखा तो उनकी प्रतिबद्धता स्पष्टता से उजागर हुई। कविता का बड़ा हिस्सा जब आत्मवादी, फ्रायडवादी और अस्तित्वादी उलझनों में डूबता जा रहा था ऐसे में 'नयी कविता और अस्तित्त्ववाद' अपनी सीमा के बावजूद प्रगतिशीलता के मूल्यों को प्रतिष्ठित करती है। ऐसे दौर में जब मार्क्सवादी आलोचना के विकास का काम कच्चा ही था, उन्होंने एक योद्धा की तरह लेखनी चलाई।

### सन्दर्भ-सूची

1. कविता के नए प्रतिमान - नामवर सिंह, पृ-45
2. हिन्दी साहित्य का इतिहास- आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ-269

3. कविता के नए प्रतिमान - नामवर सिंह, पृ-45
4. रस-मीमांसा - आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ-217
5. वही, पृ-6
6. रस-मीमांसा - आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ-99
7. वही, 212
8. वही, 212
9. वही, पृ-232
10. रस-मीमांसा - आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ-54
11. वही, पृ-12
12. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना - रामविलास शर्मा, पृ-222
13. दूसरी परम्परा की खोज - नामवर सिंह, पृ-27
14. अशोक के फूल - हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ-13
15. रस-सिद्धान्त - नगेन्द्र, पृ-327
16. हिन्दी साहित्य का इतिहास - आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ-1
17. साहित्य सहचर - हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ-57
18. साहित्य का उद्देश्य - प्रेमचंद, पृ-16
19. वही, पृ-22
20. हिन्दी आलोचना - विश्वनाथ त्रिपाठी, पृ-182
21. आलोचना त्रैमासिक - रामविलास शर्मा विशेषांक, अप्रैल-जून 2001, पृ-7
22. आस्था और सौन्दर्य - रामविलास शर्मा, पृ-22
23. आस्था और सौन्दर्य - रामविलास शर्मा, पृ-7
24. भारतीय संस्कृति और हिन्दी प्रदेश - भाग दो रामविलास शर्मा, पृ-7
25. परम्परा का मूल्यांकन - रामविलास शर्मा, पृ-9